प्रथम संस्करण : १०,२००
३१ जनवरी, १९८८
द्वितीय संस्करण : १०,२००
२१ मई, १९८८
तृतीय संस्करण : २१,४००
९ नवम्बर, १९८८
योग ४१,८००

मूल्य : एक रुपया पच्चीस पैसे

विभिन्न रूपों में अब तक एक लाख से अधिक प्रतियां प्रकाशित

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१.	श्री केशरीमल पूनमचन्द सेठी चैरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली-	६००१.००
२.	श्री बालचन्द जयचन्दलाल महिपाल पाटनी, गोहाटी	२५०१.००
३.	श्री मांगीलाल पदमकुमार जैन, लोहारवाले, इन्दौर	१५०१.००
४.	श्री प्रकाशचन्द मनमोहनलाल जैन, सिरसागंज	५०१.००
५.	श्री नेमीचन्दजी अजमेरा, इन्दौर	३००.००
६.	श्रीमती श्रीमाला धर्मपत्नी रामस्वरूपजैन, मजवाले मौ०	२५१.००
७.	श्री गट्टूलाल जैन, गुना	१२५.००
८.	शैलबाला जैन, सहारनपुर	१०१.००
९.	श्रीमती सुशीला जैन,	१०१.००
१०.	श्रीमती गुणमाला जैन, दिल्ली	१०१.००
११.	गुप्तदान, हस्ते श्री प्रेमचन्द जैन, अजमेर	१०१.००
१२.	श्रीमती चेलना जैन धर्मपत्नी श्री राजकुमार जैन, मो०	१०१.००
१३.	प्रो० जमनालाल जैन, इन्दौर	१०१.००
१४.	श्रीमती शैल बंसल धर्मपत्नी श्री अखिल बंसल, जयपुर–	१०१.००
१५.	श्री वीरसेन जैन, दिल्ली	१००.००
१६.	गुप्तदान, हस्ते-सुषमा जैन, नैनीताल	५०.००
	योग	१२९३७.००

प्रकाशकीय
(तृतीय संस्करण)

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह के मांगलिक प्रसंग पर डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा रचित 'कुन्दकुन्द शतक' का यह तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। सर्वाधिक गौरव की बात यह है कि जनवरी 88 से अब तक मात्र 9 माह के अल्पकाल में विविध रूपों में यह कृति 1 लाख से अधिक की संख्या में प्रकाशित होकर जन-जन के हाथ में पहुंच चुकी है। यह जानकर आपको प्रसन्नता होगी कि इस कृति का गाँव-गाँव में दैनिक सामूहिक पाठ आरंभ होगया है।

प्रथम संस्करण जब लोगों के हाथ में पहुंचा तो समाज ने इसका सच्चे हृदय से स्वागत तो किया ही साथ में सुझाव भी दिया कि इसके साथ इसका पद्यानुवाद भी होना चाहिए। सबकी भावना को ध्यान में रखते हुए डॉ० भारिल्ल जी ने स्वयं इसका पद्यानुवाद भी किया जो इस पुस्तक में सम्मिलित कर लिया गया है।

वैसे तो डॉ० भारिल्ल की अनेक मौलिक कृतियों को विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित करने का अवसर हमें मिला है, पर यह एक तरह का नया प्रयास है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध पंच परमागमों में से सर्वजन सुलभ 101 गाथाओं को चुनकर सरलार्थ के साथ एक स्वतंत्र कृति के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

'कुन्दकुन्द शतक' के रूप में इन गाथाओं का संकलन डॉ० भारिल्ल जी ने अपनी नवीनतम कृति 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम' के अन्तिम अध्याय के रूप में किया था, पर हमें इस अंश को स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करना भी समाजोपयोगी लगा। परिणामस्वरूप यह कृति आपके हाथों में है।

इसके प्रथम दो संस्करण २० हजार ४०० की संख्या में प्रकाशित हुए थे, २१,४०० का यह तृतीय संस्करण है। इस प्रकार ४१ हजार ८०० तो यह कृति ही प्रकाशित हो चुकी है। 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम' कृति के भी दो संस्करण १० हजार ४०० की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। 'कुन्दकुन्द शतक' (पद्यानुवाद) जेबी साइज में अलग से चार संस्करणों में ३६ हजार ६०० की संख्या में तथा कानपुर मुमुक्षु मण्डल द्वारा ११ हजार २०० प्रतियों

का प्रकाशन हो चुका है। इस प्रकार विविध रूपों में यह 1 लाख की संख्या में जनसाधारण तक पहुंच चुकी है। यह संख्या इसकी लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इतनी अल्प अवधि में एक लाख की संख्या में किसी पुस्तक का छप जाना बहुत महत्व रखता है।

इसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है, जो प्रेस में है। अन्य भाषाओं में भी इसके अनुवाद हो रहे हैं। इसका एक संगीतमय कैसेट भी तैयार किया गया है जिसके उद्घाटन के अवसर पर ही एक हजार कैसेट बिक गए इसकी भी मांग निरन्तर बढ़ रही है। यह कैसेट भी अब तक दस हजार की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुका है।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द के मूलग्रंथों और उनकी अति गम्भीर संस्कृत टीकाओं के हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं तथापि ऐसे कितने लोग हैं, जिन्होंने उनका आद्योपान्त स्वाध्याय किया हो? आज के इस व्यस्त युग में न तो लोगों के पास इतना समय है और न रुचि ही है, जो इन विशाल व गम्भीर ग्रंथों का गहराई से अध्ययन करें।

आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी और उसमें प्रतिपादित विषयवस्तु के सिंहावलोकन की दृष्टि से संक्षिप्त सरलार्थ सहित यह 'कुन्दकुन्द शतक' अवश्य ही अधिकतम लोगों तक पहुंचेगा, जिसे पढ़कर आचार्य कुन्दकुन्द के मूलग्रंथों को आद्योपान्त पढ़ने की प्रेरणा भी लोगों को प्राप्त होगी।

कुन्दकुन्द वर्ष में इसकी अधिकाधिक प्रतियाँ जन-जन तक पहुंचे—हमारी ऐसी भावना है, पर इस भावना की पूर्ति आत्मार्थी भाईयों के सहयोग पर ही तो निर्भर है। यदि एक-एक परिवार सौ-सौ प्रतियाँ खरीदकर अपने हाथ से उपयुक्त व्यक्तियों तक पहुंचाए तो हमारी भावना को सफल होने में संदेह की गुंजाइश ही न रहेगी। आत्मार्थी परिवारों द्वारा उठाया गया यह कदम उनकी आचार्य कुन्दकुन्द को सच्ची श्रद्धांजलि भी होगी।

डॉ० भारिल्ल जी ने इन गाथाओं के संकलन, सम्पादन, पद्यानुवाद, सरलार्थ लेखन एवं व्यवस्थित क्रम प्रदान करने में जो श्रम उठाया है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं। सम्पूर्ण मुद्रण व्यवस्था में अखिल बंसल का महत्वपूर्ण सहयोग रहा अतः हम उनका भी हृदय से आभार मानते हैं।

अधिकतम लोग आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी का स्वाद लें—इस पवित्र भावना के साथ।

१ नवम्बर १९८८

--नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री

सम्पादकीय

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में जन्मे जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर जिन-परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है।

इस संदर्भ में दर्शनसार में समागत विक्रम की दशवीं शदी के आचार्य देवसेन का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है-

"अह पउमणंदिणाहो सीमन्धरसामि दिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।

यदि सीमन्धर स्वामी (महाविदेह में विद्यमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा पद्मनंदिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते?"

ध्यान रहे-आपका मुनि अवस्था का नाम तो पद्मनंदी ही था। कुन्दकुन्द तो आपका कौण्डकुन्दपुर का वासी होने के कारण कहा जाने लगा था। इस सन्दर्भ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेखों में अनेकों बार समागत निम्नांकित छंद उल्लेखनीय हैं-

श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्गा श्रीगौतमाद्याप्रभविष्णवस्ते ।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धियुक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे बभूव।।३।।

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः।।४।।[1]

मुनीन्द्रों में श्रेष्ठ प्रभावशाली महर्द्धिक गौतमादि रत्नों की रत्नाकर आचार्य परम्परा में नन्दिगण में, श्रेष्ठ चरित्र के धनी, चारण ऋद्धिकधारी पद्मनन्दी नाम के मुनिराज हुए, जिनका दूसरा नाम-आचार्य शब्द है अंत में जिसके-ऐसा कौण्डकुन्द था अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य था।"

कतिपय अन्य महत्वपूर्ण शिलालेख इस प्रकार है-

"कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करने वाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के-चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं।[2]

यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्द स्वामी) रजःस्थान पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। अर्थात् वे अंतरंग में रागादिमल से तथा बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।[3]"

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, पृष्ठ ३४, ४३, ५८ एवं ७१ २. चन्द्रगिरि शिलालेख
३. विंध्यगिरि शिलालेख

उक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान अद्वितीय है।

आचार्य कुन्दकुन्द के उपलब्ध साहित्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थराज समयसार जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकाय संग्रह भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तु-व्यवस्था के विशद विवेचन करने वाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं। ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं।

परमाध्यात्मरस से सराबोर नियमसार आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी कृति है, जिसे उन्होंने अपने स्वयं के पाठ के लिए बनाया था। अष्टपाहुड़ में उनके प्रशासक रूप के दर्शन होते हैं। उसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्‌घाटन किया है, जिसके जाने विना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे।

इस कुन्दकुन्द शतक में आचार्य कुन्दकुन्द के उक्त पंच परमागमों में से चुनी हुई १०१ गाथाएँ संकलित हैं। आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि समारोह के अवसर पर आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय-वस्तु को संक्षेप में संकलित कर उन्हीं की भाषा में जन-जन तक पहुँचाने की भावना ही इस संकलन के मूल में है।

अन्वयार्थ, नयार्थ, मतार्थ आदि के विस्तार में न जाकर सीधी-सादी सुगम भाषा में संक्षिप्त सरलार्थ भी मात्र इसलिए लिखा गया है कि जिससे सभी लोग कुन्दकुन्द की वाणी का स्वाद ले सकें। जिनके पास पर्याप्त समय है और जो कुन्दकुन्द की वाणी का गहराई से अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए तो बड़े-बड़े टीकाग्रन्थ हैं ही, यह प्रयास तो उन लोगों के लिए है, जो सरसरी दृष्टि से कुन्दकुन्द की वाणी का लाभ लेना चाहते हैं।

मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि जो व्यक्ति इस सरल-सुबोध कृति का स्वाध्याय करेंगे, उन्हें आचार्य कुन्दकुन्द की मूल कृतियों का गहराई से अध्ययन करने का चाव भी उत्पन्न होगा और वे उनका स्वाध्याय कर आत्महित में प्रवृत्त होंगे।

इस कृति के संकलन, संपादन, सरलार्थ लेखन एवं गाथाओं को सुव्यवस्थित क्रम देने के प्रयत्न में मुझे आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों की गाथाओं का पाठ अनेकानेक बार सहज ही करना पड़ा। यदि मैं इस प्रयास में न लगता तो इस व्यस्त जीवन में इस परमलाभ से लाभान्वित होना संभव नहीं था। इस कुन्दकुन्द शतक का प्रतिदिन पाठ करने वाले आत्मार्थियों को कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों के पाठ का लाभ प्राप्त होगा, क्योंकि इसमें उक्त ग्रन्थों का मूल प्रतिपाद्य लगभग आ गया है।

आशा है आत्मार्थी जन इसका भरपूर लाभ उठावेंगे।

दि० १०-१-८८

—(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल



कुन्दकुन्द शतक

(१)

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ।।

सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र-वंदित कर्ममल निर्मलकरन ।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन ।।

मैं सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित, घातियाकर्मो रूपी मल को धो डालनेवाले एवं धर्मतीर्थ के कर्त्ता तीर्थंकर भगवान वर्द्धमान को प्रणाम करता हूँ।

(२)

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेठ्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ।।

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठि पण ।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण ।।

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पंच परमेष्ठी भगवान आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं; इसलिए मेरे लिए तो एक भगवान आत्मा ही शरण है।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १ २. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा १०४

(३)

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।।

सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण ।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप—ये चार आराधनाएँ भी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं; इसलिए मेरे लिए तो एक आत्मा ही शरण है। तात्पर्य यह है कि निश्चय से विचार करें तो एकमात्र निज भगवान आत्मा ही शरण है, क्योंकि आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है।

(४)

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा।।

निर्ग्रन्थ है नीराग है निःशल्य है निर्दोष है ।
निर्मान-मद यह आतमा निष्काम है निष्क्रोध है।।

भगवान आत्मा परिग्रह से रहित है, राग से रहित है, माया, मिथ्यात्व और निदान शल्यों से रहित है, सर्व दोषों से मुक्त है, काम-क्रोध से रहित है और मद-मान से भी रहित है।

(५)

णिद्दंडो णिद्दंद्दो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।

निर्दण्ड है निर्द्वन्द्व है यह निरालम्बी आतमा ।
निर्देह है निर्मूढ है निर्भयी निर्मम आतमा।।

भगवान आत्मा हिंसादि पापों रूप दण्ड से रहित है, मानसिक द्वन्द्वों से रहित है, ममत्वपरिणाम से रहित है, शरीर से रहित है, आलम्बन से रहित है, राग से रहित है, दोषों से रहित है, मूढ़ता और भय से भी रहित है।

---

३. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा १०५ ४. नियमसार, गाथा ४४
५. नियमसार, गाथा ४३

(६)

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमेत्तं पि ।।

मैं एक दर्शन ज्ञान मय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ।।

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ एवं सदा ही ज्ञान-दर्शनमय अरूपी तत्त्व हूँ। मुझसे भिन्न अन्य समस्त द्रव्य परमाणु मात्र भी मेरे नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि मैं समस्त परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान-दर्शन स्वरूपी, अरूपी, एक, परमशुद्ध तत्त्व हूँ। अन्य परद्रव्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

(७)

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेतनागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है ।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ।।

भगवान आत्मा में न रस है, न रूप है, न गंध है और न शब्द है; अतः यह आत्मा अव्यक्त है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है। हे भव्यो! किसी भी लिंग (चिह्न) से ग्रहण न होने वाले, चेतना गुण वाले एवं अनिर्दिष्ट (न कहे जा सकने वाले) संस्थान (आकार) वाले इस भगवान आत्मा को जानो।

(८)

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ।।

जिस भाँति प्रज्ञाछैनी से पर से विभक्त किया इसे ।
उस भाँति प्रज्ञाछैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ।।

प्रश्न—भगवान आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया जाय?

उत्तर—भगवान आत्मा का ग्रहण बुद्धिरूपी छैनी से किया जाना चाहिए। जिस प्रकार बुद्धिरूपी छैनी से भगवान आत्मा को परपदार्थों से भिन्न किया है, उसी प्रकार बुद्धिरूपी छैनी से ही भगवान आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

---

६. समयसार, गाथा ३८ ७. समयसार, गाथा ४९
८. समयसार, गाथा २९६

(९)

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि।।

जो जानता मैं शुद्ध हूँ वह शुद्धता को प्राप्त हो ।
जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो।।

शुद्धात्मा को जानता हुआ अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ—अनुभवता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव में अपनापन स्थापित करनेवाला शुद्धता को प्राप्त करता है और अशुद्ध स्वभाव में अपनापन स्थापित करनेवाला अशुद्ध रहता है।

(१०)

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।।

यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है ।
हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है।।

आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। ज्ञेय तो सम्पूर्ण लोकालोक है। यही कारण है कि लोकालोकरूप ज्ञेय को जानने वाले ज्ञान को भी सर्वगत कहा गया है। यद्यपि आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों से बाहर नहीं जाता, तथापि सब को जानने वाला होने से सर्वगत कहा जाता है।

(११)

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा ।
ये तीन ही हैं आतमा बस कहे निश्चयनय सदा।।

साधु पुरुषों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-चारित्र का नित्य सेवन करना चाहिए; क्योंकि उन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो।

---

९. समयसार, गाथा १८६
१०. प्रवचनसार, गाथा २३
११. समयसार, गाथा १६

(१२-१३)

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।

'यह नृपति है' यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें ।
अनुचरण उसका ही करें अति प्रीति से सेवा करें।।
यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिए ।
अति प्रीति से अनुचरण करिये प्रीति से पहिचानिए।।

जिस प्रकार कोई धनार्थी पुरुष राजा को जानकर उसका श्रद्धान करता है और उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है; उसी प्रकार मुमुक्षुओं को जीवरूपी राजा को जानना चाहिये, उसका श्रद्धान करना चाहिए एवं उसी का अनुचरण भी करना चाहए, उसी में तन्मय हो जाना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि आत्मार्थियों को सर्वप्रथम निज भगवान आत्मा को जानना चाहिए, फिर यह श्रद्धान करना चाहिए कि यह भगवान आत्मा मैं ही हूँ। इसके पश्चात् उसी में लीन हो जाना चाहिए, क्योंकि निज भगवान आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान ही निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

(१४)

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं।।

जो भव्यजन संसार-सागर पार होना चाहते ।
वे कर्मईंधन-दहन निज शुद्धातमा को ध्यावते।।

जो जीव भयंकर संसाररूपी समुद्र से पार होना चाहते हैं, वे जीव कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाले अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं; क्योंकि शुद्धात्मा के ध्यानरूपी अग्नि ही कर्मरूपी ईंधन को जलाने में समर्थ होती है। अतः मुमुक्षु का एकमात्र परम कर्त्तव्य निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है।

---

१२. समयसार, गाथा १७ १३. समयसार, गाथा १८
१४. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा २६

(१५)

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।

मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर ।
निज में ही नित्य विहार कर पर द्रव्य में न विहार कर ।।

हे आत्मन् ! तू स्वयं को निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में स्थापित कर, निजात्मा का ही ध्यान धर, निजात्मा में ही चेत, निजात्मा का ही अनुभव कर एवं निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में ही नित्य विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर, उपयोग को अन्यत्र मत भटका, एक आत्मा का ही ध्यान धर।

(१६)

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ।।

जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।
रागादि का परिहार चारित यही मुक्तीमार्ग है ।।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और उन्हीं का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि भावों का त्याग सम्यक्चारित्र है—बस यही मोक्ष का मार्ग है।

(१७)

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ।।

तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है तत्ग्रहण सम्यग्ज्ञान है ।
जिनदेव ने ऐसा कहा परिहार ही चारित्र है ।।

तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शन है, तत्त्वग्रहण सम्यग्ज्ञान है और मोह-राग-द्वेष एवं परपदार्थों का त्याग सम्यक्चारित्र है—ऐसा जिनेन्द्र देवों ने कहा है।
परमतत्त्व रूप निज भगवान आत्मा की रुचि सम्यग्दर्शन, उसी का ग्रहण सम्यग्ज्ञान और उससे भिन्न परद्रव्यों एवं उनके लक्ष्य से उत्पन्न चिद्विकारों का त्याग ही सम्यक्चारित्र है।

---

१५. समयसार, गाथा ४१२   १६. समयसार, गाथा १५५
१७. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा ३८

(१८)

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं।।

जानना ही ज्ञान है अरु देखना दर्शन कहा ।
पुण्य-पाप का परिहार चारित्र यही जिनवर ने कहा।।

जो जानता है, वह ज्ञान है; जो देखता है, वह दर्शन है और पुण्य-पाप के परिहार को चारित्र कहा गया है; क्योंकि पुण्य और पाप दोनों ही रागभावरूप हैं और चारित्र वीतरागभावरूप होता है।

(१९)

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व।।

दर्शन रहित यदि वेष हो चारित्र विरहित ज्ञान हो ।
संयम रहित तप निरर्थक आकाश-कुसुम समान हो।।

चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है, सम्यग्दर्शन के बिना लिंग-ग्रहण अर्थात् नग्न दिगम्बर दीक्षा लेना निरर्थक है और संयम बिना तप निरर्थक है। सम्यग्ज्ञान की सार्थकता तदनुसार आचरण करने में है। तप भी संयमी को ही शोभा देता है और साधुवेष भी सम्यग्दृष्टियों का ही सफल है।

(२०)

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ।।

दर्शन सहित हो वेष चारित्र शुद्ध सम्यग्ज्ञान हो ।
संयम सहित तप अल्प भी हो तदपि सुफल महान हो।।

चारित्र से शुद्ध ज्ञान, सम्यग्दर्शन सहित लिंगग्रहण एवं संयम सहित तप यदि थोड़ा भी हो तो महाफल देनेवाला होता है।

---

१८. अष्टपाहुड मोक्षपाहुड, गाथा ३७ १९. अष्टपाहुड : शीलपाहुड, गाथा ५
२०. अष्टपाहुड : शीलपाहुड, गाथा ६

(२१)

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू ।।

परमार्थ से हों दूर पर तप करें व्रत धारण करें ।
सब वालतप है बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें ।।

परमार्थ में अस्थित अर्थात् निज भगवान आत्मा के अनुभव से रहित जो जीव तप करता है, व्रत धारण करता है; उसके उन व्रत और तप को सर्वज्ञ भगवान बालतप एवं बालव्रत कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान विना – आत्मानुभव के विना किये गये व्रत और तप निरर्थक हैं।

(२२)

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ।।

व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें ।
पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ति करें ।।

शील और तप को करते हुए भी, व्रत और नियमों को धारण करते हुए भी जो जीव परमार्थ से वाह्य हैं, परमार्थ अर्थात् सर्वोत्कृष्ट पदार्थ निज भगवान आत्मा के अनुभव से रहित हैं, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती है। निर्वाण की प्राप्ति आत्मानुभवियों को ही होती है। निर्वाण की प्राप्ति आत्मानुभवियों को ही होती है।

(२३)

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं ।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ।।

जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें ।
श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें ।।

जो शक्य हो, वह करे; जो शक्य न हो, न करे; पर श्रद्धान तो सभी का करे; क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करने वाले को सम्यग्दर्शन होता है–ऐसा कहा है।

---

२१. समयसार, गाथा १५२ २२. समयसार, गाथा १५३
२३. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २२

(२४)

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ।।

जीवादि का श्रद्धान ही व्यवहार से सम्यकत्व है ।
पर नियत नय से आत्म का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ।।

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और अपने आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।

(२५)

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ।।

नियम से निज द्रव्य में रत श्रमण सम्यकवंत हैं ।
सम्यक्त्व-परिणत श्रमण ही क्षय करें करमानन्त हैं ।।

जो श्रमण स्वद्रव्य में रत है, रुचिवंत है; वह नियम से सम्यक्त्व सहित है। सम्यक्त्व सहित वह श्रमण दुंष्टाष्ट कर्मों का नाश करता है। अपने आत्मा में अपनापन स्थापित कर अपने आत्मा में लीन हो जाने वाले सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा श्रमण आठ कर्मों का नाश करते हैं, सिद्धदशा को प्राप्त करते हैं।

(२६)

किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ।।

मुक्ती गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का ।
यह जान लो हे भव्यजन ! इससे अधिक अब कहें क्या ।।

अधिक कहने से क्या लाभ है, इतना समझ लो कि आज तक जो जीव सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में होंगे, वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना न तो आज तक कोई सिद्ध हुआ है और न भविष्य में होगा।

---

२४. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २० २५. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा १४
२६. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा ८८

(२७)

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ।।

वे धन्य हैं सुकृतार्थ हैं, वे शूर नर पण्डित वही ।
दुःस्वप्न में सम्यक्त्व को जिनने मलीन किया नहीं ।।

जिन जीवों ने मुक्ति प्राप्त कराने वाले सम्यग्दर्शन को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया; वे ही धन्य हैं, कृतार्थ हैं, शूरवीर हैं, पंडित हैं, मनुष्य हैं। तात्पर्य यह है कि सभी गुण सम्यग्दर्शन से ही शोभा पाते हैं। अतः हमें निर्मल सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए। स्वप्न में भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न हो।

(२८)

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा ।
तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं।

भूतार्थ (निश्चय) नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये नव तत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं। तात्पर्य यह है कि मात्र व्यवहार से तत्त्वों का स्वरूप जान लेना पर्याप्त नहीं है, नव तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप निश्चयनय से जानना चाहिए।

(२९)

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ।।

शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय ।
भूतार्थ की ही शरण गह यह आतमा सम्यक् लहे ।।

व्यवहारनय अभूतार्थ (असत्यार्थ) है और शुद्धनय (निश्चयनय) भूतार्थ (सत्यार्थ) है। जो जीव भूतार्थ अर्थात् शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत निज भगवान आत्मा का आश्रय लेता है, वह जीव नियम से सम्यग्दृष्टि होता है।

---

२७. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा ८९ २८. समयसार, गाथा १३
२९. समयसार, गाथा ११

(३०)

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।

अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को ।
बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को ।।

जिसप्रकार अनार्य (म्लेच्छ) जनों को अनार्य भाषा के बिना कोई भी बात समझाना शक्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है। तात्पर्य यह है कि अभूतार्थ होने पर भी निश्चय का प्रतिपादक होने के कारण व्यवहार को जिनवाणी में स्थान प्राप्त है।

(३१)

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ।।

देह-चेतन एक हैं – यह वचन है व्यवहार का ।
ये एक हो सकते नहीं – यह कथन है परमार्थ का ।।

व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है, किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कदापि एक नहीं हो सकते हैं, वे भिन्न-भिन्न ही हैं। यह असद्भूत-व्यवहारनय का प्रतिपादन है, जिसका निषेध निश्चयनय कर रहा है।

(३२)

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं – यह कहा व्यवहार से ।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ।।

व्यवहारनय से कहा जाता है कि ज्ञानी के ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है; किन्तु निश्चय से ज्ञानी के न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है। यह सद्भूत-व्यवहारनय का कथन है, जिसका निषेध निश्चयनय कर रहा है।

---

३०. समयसार, गाथा ८
३१. समयसार, गाथा २७
३२. समयसार, गाथा ७

(३३)

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।

जो सो रहा व्यवहार में वह जागता निज कार्य में ।
जो जागता व्यवहार में वह सो रहा निज कार्य में ।।

जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप की साधना के काम में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने काम में सोता है।
स्वरूप की साधना ही निश्चय से आत्मा का कार्य है। अतः साधुजन व्यर्थ के व्यवहार में न उलझ कर एकमात्र अपने आत्मा की साधना करते हैं।

(३४)

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।

इस ही तरह परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की ।
निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ति करें निर्वाण की ।।

इसप्रकार निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय को निषिद्ध (निषेध कर दिया गया) जानो, क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेनेवाले मुनिराज ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। व्यवहारनय निश्चयनय का प्रतिपादक होता है और निश्चयनय व्यवहारनय का निषेधक—इन दोनों नयों में ऐसा ही संबंध है।

(३५)

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ।।

सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा ।
हे कानवालो सुनो दर्शन-हीन वंदन योग्य ना ।।

जिनवरदेव ने अपने शिष्यों से कहा कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। अतः हे जिनवरदेव के शिष्यो ! कान खोलकर सुन लो कि सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति वंदना करने योग्य नहीं है।

---

३३. अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा ३१ ३४. समयसार, गाथा २७२
३५. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २

(३६)

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।
एदे भट्ठ वि भट्ठ सेसं जणं विणासंति।।

जो ज्ञान-दर्शन-भ्रष्ट हैं चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ।
वे भ्रष्ट करते अन्य को वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं।।

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट हैं एवं सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हैं; वे भ्रष्टों में भ्रष्ट हैं। ऐसे लोग स्वयं तो नष्ट हैं ही, अन्य जनों को भी नष्ट करते हैं; अतः ऐसे लोगों से दूर रहना चाहिए।

(३७)

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।।

दृग-भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं उनको कभी निर्वाण ना ।
हों सिद्ध चारित्र-भ्रष्ट पर दृग-भ्रष्ट को निर्वाण ना।।

जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं; उनको निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते। तात्पर्य यह है कि चारित्र की अपेक्षा श्रद्धा का दोष बड़ा माना गया है।

(३८)

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं।।

जो लाज गारव और भयवश पूजते दृग-भ्रष्ट को ।
की पाप की अनुमोदना ना बोधि उनको प्राप्त हो।।

'ये साधु सम्यग्दर्शन-भ्रष्ट हैं'—ऐसा जानकर भी जो पुरुष लज्जा, गारव व भय से उनके पैरों में पड़ते हैं, पाप की अनुमोदना करने वाले होने से उन्हें भी बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) नहीं है।

---

३६. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा ८ ३७. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा ३
३८. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा १३

(३९)

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं।।

चाहें नमन दृगवंत से पर स्वयं दर्शनहीन हों ।
है बोधिदुर्लभ उन्हें भी वे भी वचन-पग हीन हों।।

जो पुरुष स्वयं सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, पर अन्य सम्यग्दृष्टियों से अपने पैर पुजवाते हैं या पुजवाना चाहते हैं, वे परभव में लूले और गूंगे होते हैं, उन्हें भी बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति दुर्लभ है। यहाँ आचार्यदेव लूले और गूंगे कह कर यह कहना चाहते हैं कि वे एकेन्द्रिय पेड़-पौधे होंगे, जहाँ चलना-फिरना और बोलना संभव नहीं होगा।

(४०)

सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।

यद्यपि करें वे उग्र तप शत-सहस-कोटी वर्ष तक ।
पर रतनत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व-विरहित साधु सब।।

जो मुनि सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे हजार करोड़ (दश अरब) वर्ष तक भलीभाँति उग्र तप करें, तब भी उन्हें बोधि (रत्नत्रय) की प्राप्ति नहीं होती है।

(४१)

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी ।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।

जिसतरह द्रुम परिवार की वृद्धि न हो जड़ के बिना ।
बस उसतरह ना मुक्ति हो जिनमार्ग में दर्शन बिना।।

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ के नष्ट हो जाने पर उसके परिवार (तना, शाखा, पत्र, पुष्प, फूल आदि) की वृद्धि नहीं होती; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मुनि मूल से ही विनष्ट हैं; अतः उन्हें मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।

---

३९. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा १२   ४०. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा ५
४१. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा १०

(४२)

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणो वि तो ण वंदिज्ज ।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ।।

असंयमी न वन्द्य है दृगहीन वस्त्रविहीन भी ।
दोनों ही एक समान हैं दोनों ही संयत हैं नहीं ।।

असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार यदि भावसंयम नहीं है, पर बाहर से वस्त्रादि त्यागकर द्रव्यसंयम धारण कर लिया है तो वह भी वंदनीय नहीं है; क्योंकि असली संयम के अभाव में दोनों ही समान रूप से अवंदनीय है।

(४३)

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ।।

ना वंदना हो देह की कुल की नहीं ना जाति की ।
कोई करे क्यों वंदना गुण-हीन श्रावक-साधु की ।।

न तो देह वंदनीय है, न कुल वंदनीय है और न जाति ही वंदनीय है। गुणहीनों की वंदना कौन करे? क्योंकि गुणहीन न तो सच्चे श्रावक ही होते हैं और न सच्चे श्रमण ही।

(४४)

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी ।
यह मान्यता जब तक रहे अज्ञानि हैं तब तक सभी ।।

जबतक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों में आत्मबुद्धि रहेगी अर्थात् "यह मैं हूँ और कर्म-नोकर्म मुझ में हैं"–ऐसी बुद्धि रहेगी, ऐसी मान्यता रहेगी, तबतक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है। तात्पर्य यह है कि शरीरादि परपदार्थों एवं मोहादि विकारी पर्यायों में अपनापन ही अज्ञान है।

---

४२. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २६ ४३. अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा २७
४४. समयसार, गाथा १९

(४५)

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।

करम के परिणाम को नोकरम के परिणाम को ।
जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हो सद्ज्ञान को ।।

जो आत्मा कर्म के परिणाम को एवं नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है; किन्तु मात्र जानता है, वह ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि परकर्त्तत्व का भाव अज्ञान है, क्योंकि ज्ञानभाव तो मात्र जाननरूप ही होता है।

(४६)

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ।।

जो जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी यह मानता है कि न मैं किसी को मार सकता हूँ और न कोई मुझे मार सकता है।

(४७)

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ।।

निज आयुक्षय से मरण हो – यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं? ।।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है–ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तुम परजीवों के आयुकर्म को तो हरते नहीं हो; फिर तुमने उनका मरण कैसे किया?–यह बात गंभीरता से विचार करने योग्य है।

---

४५. समयसार, गाथा ७५ ४६. समयसार, गाथा २४७
४७. समयसार, गाथा २४८

(४८)

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं।।

निज आयुक्षय से मरण हो — यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं?।।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। परजीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया? अतः अपने मरण का दोष पर के माथे मढ़ना अज्ञान ही है।

(४९)

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।

मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन!।।

जो जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को जिलाता (रक्षा करता) हूँ और पर-जीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इसके विपरीत मानने वाला ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि एक जीव दूसरे जीव के जीवन-मरण और सुख-दुख का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है, अज्ञानी जीव व्यर्थ ही पर का कर्त्ता-धर्ता बनकर दुखी होता है।

(५०)

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं।।

सब आयु से जीवित रहें — यह बात जिनवर ने कही ।
जीवित रखोगे किस तरह जब आयु दे सकते नहीं?।।

जीव आयुकर्म के उदय से ज़ीता है—ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। तुम पर-जीवों को आयुकर्म तो देते नहीं तो तुमने उनका जीवन (रक्षा) कैसे किया?

---

४८. समयसार, गाथा २४९ ४९. समयसार, गाथा २५०
५०. समयसार, गाथा २५१

(५१)

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ।।

सब आयु से जीवित रहें — यह बात जिनवर ने कही ।
कैसे बचावे वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं? ।।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है—ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। पर-जीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा जीवन (रक्षा) कैसे किया?

(५२)

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।

मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो? ।।

जो यह मानता है कि मैं परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। ज्ञानी इससे विपरीत मानता है। ज्ञानी जानता है कि लौकिक सुख व दुख तो जीवों को अपने पुण्य-पाप के अनुसार होते हैं, वे तो उनके स्वयं के कर्मों के फल हैं। उनमें किसी दूसरे जीव का रंचमात्र भी कर्त्तत्व नहीं है।

(५३)

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ।।

मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से ।
यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ।।

जीवों को मारो अथवा न मारो, कर्मबंध तो मात्र अध्यवसान (मोह-राग-द्वेष) से ही होता है। निश्चयनय से जीवों के बंध का स्वरूप संक्षेप में यही है। बंध का संबंध पर-जीवों के जीवन-मरण से न होकर जीव के स्वयं के मोह-राग-द्वेष परिणामों से है। अतः बंध से बचने के लिए परिणामों की संभाल अधिक आवश्यक है।

---

५१. समयसार, गाथा २५२
५२. समयसार, गाथा २५३
५३. समयसार, गाथा २६२

(५४)

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।।

प्राणी मरें या ना मरें हिंसा अयत्नाचार से ।
तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से ।।

जीव मरे चाहे न मरे, पर अयत्नाचार प्रवृत्ति वाले के हिंसा होती ही है। यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के मात्र बाह्य हिंसा से बंध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि बंध का सम्बन्ध जितना अनर्गलप्रवृत्ति से है, उतना जीवों के मरने-जीने से नहीं। अतः बंध से बचने के लिए अनर्गलप्रवृत्ति से बचना चाहिए।

(५५)

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ।।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत् सत् द्रव्य का लक्षण कहा ।
पर्याय-गुणमय द्रव्य है – यह वचन जिनवर ने कहा ।।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त सत् जिसका लक्षण है और जिसमें गुण व पर्यायें पाई जाती हैं, उसे सर्वज्ञ भगवान द्रव्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। अथवा गुण और पर्यायवाली वस्तु को द्रव्य कहते हैं।

(५६)

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति ।।

पर्याय बिन ना द्रव्य हो ना द्रव्य बिन पर्याय ही ।
दोनों अनन्य रहे सदा – यह बात श्रमणों ने कही ।।

जैन श्रमण कहते हैं कि पर्यायों के विना द्रव्य नहीं होता; और द्रव्य के विना पर्यायें नहीं होती, क्योंकि दोनों में अनन्यभाव है।

---

५४. प्रवचनसार, गाथा २१७ ५५. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १०
५६. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १२

(५७)

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ।।

द्रव्य विन गुण हों नहीं गुण विना द्रव्य नहीं वने ।
गुण द्रव्य अव्यतिरिक्त हैं – यह कहा जिनवर देव ने ।।

द्रव्य के विना गुण नहीं होते और गुणों के विना द्रव्य नहीं होता; क्योंकि दोनों में अव्यक्तिरिक्त भाव (अभिन्नपना) है।
गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। अतः द्रव्य और गुणों का भिन्न-भिन्न होना संभव नहीं है। द्रव्य और गुणों में मात्र अंशी-अंश का भेद है।

(५८)

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ।।

उत्पाद हो न अभाव का ना नाश हो सद्भाव में ।
उत्पाद-व्यय करते रहें सव द्रव्य गुण-पर्याय में ।।

भाव का अर्थात् जो पदार्थ है, उसका नाश नहीं होता और अभाव का अर्थात् जो पदार्थ नहीं है, उसका उत्पाद नहीं होता। भाव अर्थात् सभी पदार्थ अपने गुण-पर्यायों का उत्पाद-व्यय करते हैं। तात्पर्य यह है कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता; पर सभी पदार्थों में प्रतिसमय परिणमन अवश्य होता रहता है।

(५९)

तक्कालिगेव सव्वे सद सब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ।।

असद्भूत हों सद्भूत हों सव द्रव्य की पर्याय सव ।
सद्ज्ञान में वर्तमानवत ही हैं सदा वर्तमान सव ।।

जीवादि द्रव्य जातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भाँति विशेष रूप से ज्ञान में झलकती हैं।

---

५७. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १३ ५८. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १५
५९. प्रवचनसार, गाथा ३७

(६०)

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ।।

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं ।
असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ।।

जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं और जो पर्यायें उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं वे अविद्यमान पर्यायें भी ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होती हैं। ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है कि उसमें भूतकालीन विनष्ट पर्यायें और भविष्यकालीन अनुत्पन्न पर्यायें भी स्पष्ट झलकती हैं।

(६१)

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ।।

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो ।
फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो? ।।

यदि अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा? सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान की दिव्यता ही इस बात में है कि उसमें भूत-भविष्य की पर्यायें भी प्रतिबिम्बित होती है।

(६२)

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ।।

अरहंत-भासित ग्रथित-गणधर सूत्र से ही श्रमणजन ।
परमार्थ का साधन करें अध्ययन करो हे भव्यजन ।।

अरहंत भगवान द्वारा कहा गया और गणधरदेव द्वारा भले प्रकार से गूँथा गया जो जिनागम है, वही सूत्र है। ऐसे सूत्रों के आधार पर श्रमणजन परमार्थ को साधते हैं। तात्पर्य यह है कि जिनागम श्रमणों के लिए परमार्थसाधक है।

---

६०. प्रवचनसार, गाथा ३८ ६१. प्रवचनसार, गाथा ३९
६२. अष्टपाहुड : सूत्रपाहुड, गाथा १

(६३)

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि।।

डोरा सहित सुइ नहीं खोती गिरे चाहे वन भवन ।
संसार-सागर पार हों जिनसूत्र के ज्ञायक श्रमण।।

जिसप्रकार सूत्र (डोरा) सहित सुई खोती नहीं है, सूत्र रहित खो जाती है; उसी प्रकार सूत्र (शास्त्र) सहित श्रमण नाश को प्राप्त नहीं होते। सूत्रों को जानने वाले श्रमण संसार का नाश करते हैं; क्योंकि संसार के नाश और मुक्ति प्राप्त करने का उपाय सूत्रों (शास्त्रों) में ही बताया गया है।

(६४)

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।।

तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से ।
दृगमोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए।।

जिनशास्त्रों के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वालों के नियम से मोह का नाश हो जाता है; इसलिए शास्त्रों का अध्ययन अच्छी तरह से अवश्य करना चाहिए।

(६५)

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा।।

जिन-आगमों से सिद्ध हों सब अर्थ गुण-पर्यय सहित ।
जिन-आगमों से ही श्रमणजन जानकर साधें स्वहित ।

विचित्र गुण-पर्यायों से सहित सभी पदार्थ आगमसिद्ध हैं। श्रमणजन उन पदार्थों को आगम के अभ्यास से ही जानते हैं। तात्पर्य यह है कि क्षेत्र व काल से दूरवर्ती एवं सूक्ष्म पदार्थ केवलज्ञान विना प्रत्यक्ष नहीं जाने जा सकते; अतः वे क्षयोपशम ज्ञानी मुनिराजों द्वारा आगम से ही जाने जाते हैं।

---

६३. अष्टपाहुड : सूत्रपाहुड, गाथा ३
६४. प्रवचनसार, गाथा ८६
६५. प्रवचनसार, गाथा २३५

(६६)

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ।।

स्वाध्याय से जो जानकर निज अर्थ में एकाग्र हैं ।
भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ है ।।

सच्चा श्रमण वही है, जिसे अपने आत्मा की एकाग्रता प्राप्त हो। एकाग्रता उसे ही प्राप्त होती है, जिसने पदार्थों का निश्चय किया हो। पदार्थों का निश्चय आगम से होता है; अतः आगम में चेष्टा ही ज्येष्ठ है। तात्पर्य यह कि आगम का अभ्यास आवश्यक, अनिवार्य और श्रेष्ठ कर्त्तव्य है।

(६७)

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।।

जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्वपर को नहिं जानते ।
वे कर्मक्षय कैसे करें जो स्वपर को नहिं जानते? ।।

आगम-हीन श्रमण आत्मा को और पर को नहीं जानता है। पदार्थो को नहीं जानने वाला श्रमण कर्मों का नाश किसप्रकार कर सकता है?

(६८)

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ।।

व्रत सहित पूजा आदि सब जिन धर्म में सत्कर्म हैं ।
दृगमोह -क्षोभ विहीन निज परिणाम आतमधर्म हैं ।।

जिन शासन में जिनेन्द्रदेव ने इसप्रकार कहा है कि पूजादि करना एवं व्रत धारण करना पुण्य ही है और मोह (मिथ्यात्व) व क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है। तात्पर्य यह है कि शुभभाव पुण्य है और शुद्धभाव (वीतराग भाव) धर्म है।

---

६६. प्रवचनसार, गाथा २३२   ६७. प्रवचनसार, गाथा २३३
६८. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ८३

(६९)

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।

चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है ।
दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम समताभाव है ।।

वास्तव में तो चारित्र ही धर्म है। यह धर्म साम्यभाव रूप है तथा मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (रागद्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्य है—ऐसा कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन सहित चारित्र ही वास्तव में धर्म है।

(७०)

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ।।

प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आतमा ।
पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आतमा ।।

धर्म से परिणमित स्वभाववाला आत्मा यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग में युक्त हो तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष का कारण शुद्धोपयोग ही है शुभोपयोग नहीं।

(७१)

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ।।

शुभोपयोगी श्रमण हैं शुद्धोपयोगी भी श्रमण ।
शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं आस्रवी हैं शेष सब ।।

श्रमण दो प्रकार के होते हैं :—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। शुद्धोपयोगी श्रमण निरास्रव होते हैं, शेष सास्रव होते हैं—ऐसा शास्त्रों में कहा है। तात्पर्य यह है कि शुभोपयोग से आस्रव व बंध ही होता है; संवर, निर्जरा व मोक्ष नहीं। इसीप्रकार शुद्धोपयोग से संवर, निर्जरा व मोक्ष ही होता है; आस्रव व बंध नहीं।

---

६९. प्रवचनसार, गाथा ७ ७०. प्रवचनसार, गाथा ११
७१. प्रवचनसार, गाथा २४५

(७२)

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।

कांच-कंचन बन्धु-अरि सुख-दुःख प्रशंसा-निन्द में ।
शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में ।।

जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग समान हैं, सुख-दुःख समान है, प्रशंसा-निन्दा समान हैं, पत्थर और सोना समान हैं, जीवन और मरण भी समान हैं, वही सच्चा श्रमण है। तात्पर्य यह है कि अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रसंगों में समताभाव रखना ही श्रमणपना है।

(७३)

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ।।

भावलिंगी सुखी होते द्रव्यलिंगी दुःख लहें ।
गुण-दोष को पहिचान कर सब भाव से मुनि पद गहें ।।

भावश्रमण सुख को प्राप्त करता है और द्रव्यश्रमण दुख को प्राप्त करता है। इस प्रकार गुण-दोषों को जानकर हे जीव ! तू भावसहित संयमी बन; कोरा द्रव्य संयम धारण करने से कोई लाभ नहीं।

(७४)

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ।।

मिथ्यात्व का परित्याग कर हो नग्न पहले भाव से ।
आज्ञा यही जिनदेव की फिर नग्न होवे द्रव्य से ।।

पहले मिथ्यात्वादि दोष छोड़कर भाव से नग्न हो, पीछे नग्न दिगम्बर द्रव्यलिंग धारण करे—ऐसी जिनाज्ञा है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व छोड़े बिना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त किए बिना, नग्नवेष धारण कर लेने से कोई लाभ नहीं है, अपितु हानि ही है।

---

७२. प्रवचनसार, गाथा २४१ ७३. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा १२७
७४. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ७३

(७५)

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ।।

जिन भावना से रहित मुनि भव में भ्रमें चिरकाल तक ।
हों नगन पर हों बोधि-विरहित दुःख लहें चिरकाल तक ।।

जिनभावना से रहित अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से रहित मात्र द्रव्यलिंग धारण कर लेने वाला नग्न व्यक्ति दुःखों को प्राप्त करता है, चिरकाल तक संसार-सागर में परिभ्रमण करता है। ऐसा नग्न व्यक्ति बोधि को प्राप्त नहीं होता।

(७६)

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ।।

वस्त्रादि सब परित्याग कोड़ाकोड़ि वर्षों तप करें ।
पर भाव बिन ना सिद्धि हो सत्यार्थ यह जिनवर कहें ।।

वस्त्रादि त्याग कर, हाथ लम्बे लटकाकर, जन्मजन्मान्तरों में कोटि-कोटि वर्षों तक तपश्चरण करे तो भी भाव रहित को सिद्धि प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि अंतरंग में भावों की शुद्धि बिना बाह्य में कितना ही तपश्चरण करे, कोई लाभ प्राप्त होने वाला नहीं है।

(७७)

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया ।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ।।

नारकी तिर्यंच आदिक देह से सब नग्न हैं ।
सच्चे श्रमण तो हैं वही जो भाव से भी नग्न हैं ।।

द्रव्य से बाह्य में तो सभी प्राणी नग्न होते हैं। नारकी व तिर्यंच जीव तो सदा नग्न रहते ही हैं, कारण पाकर मनुष्यादि भी नग्न होते देखे जाते हैं; पर परिणामों से अशुद्ध होने से भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं होते।

---

७५. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ६८　　७६. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ४
७७. अष्टपाहुड : भावपाहुड, गाथा ६७

(७८)

जह जायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु ।
जइ लेइ अप्पवहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ।।

जन्मते शिशुवत अकिंचन नहीं तिलतुष हाथ में ।
किंचित् परिग्रह साथ हो तो श्रमण जाँय निगोद में ।।

जैसा बालक जन्मता है, साधु का रूप वैसा ही नग्न होता है। उसके तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता। यदि कोई साधु थोड़ा-बहुत भी परिग्रह ग्रहण करता है तो वह निश्चित रूप से निगोद जाता है।

(७९)

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।।

जो आर्त होते जोड़ते रखते रखाते यत्न से ।
वे पाप मोहितमती हैं वे श्रमण नहिं तिर्यंच हैं ।।

निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर लिंग धारण करके भी जो बहुत प्रयत्न करके परिग्रह का संग्रह करता है, उसमें सम्मोहित होता है, उसकी रक्षा करता है, उसके लिए आर्त्तध्यान करता है; वह पाप से मोहित बुद्धिवाला श्रमण, श्रमण नहीं, पशु है, अज्ञानी है।

(८०)

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।।

राग करते नारियों से दूसरों को दोष दें ।
सद्ज्ञान-दर्शन रहित हैं वे श्रमण नहिं तिर्यंच हैं ।।

निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिंग धारण करके भी जो महिलावर्ग में राग करता है, उनसे रागात्मक व्यवहार करता है, प्रीतिपूर्वक वार्तालाप करता है तथा अन्य निर्दोष श्रमणों या श्रावकों को दोष लगाता है; सम्यग्दर्शनज्ञान से रहित वह श्रमण तिर्यंच योनि वाला है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

---

७८. अष्टपाहुड : सूत्रपाहुड, गाथा १८ ७९. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा ५
८०. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा १७

(८१)

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो ।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।।

श्रावकों में शिष्यगण में नेह रखते श्रमण जो ।
हीन विनयाचार से वे श्रमण नहिं तिर्यंच हैं ।।

जो भेषधारी दीक्षा रहित गृहस्थों और शिष्यों में बहुत स्नेह रखता है और मुनि के योग्य आचरण तथा विनय से विहीन होता है; वह श्रमण नहीं, पशु है, अज्ञानी है। अतः न तो गृहस्थों में स्नेह रखना चाहिए और न दीक्षित शिष्यवर्ग में ही।

(८२)

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वीसट्ठो ।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ।।

पार्श्वस्थ से भी हीन जो विश्वस्त महिला वर्ग में ।
रत ज्ञान दर्शन चरण दें वे नहीं पथ अपवर्ग में ।।

जो साधु वेष धारण करके महिलाओं में विश्वास उत्पन्न करके उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र देता है, उन्हें पढ़ाता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है—इसप्रकार उनमें प्रवर्त्तता है; वह तो पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट है, प्रकट भाव से विनष्ट है, श्रमण नहीं है।

(८३)

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमेत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ।।

धर्म से हो लिंग केवल लिंग से न धर्म हो ।
समभाव को पहिचानिये द्रवलिंग से क्या कार्य हो? ।।

धर्मसहित तो लिंग होता है, परन्तु लिंगमात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए हे भव्यजीव ! तू भावरूप धर्म को जान, केवल लिंग से तेरा क्या कार्य सिद्ध होता है? तात्पर्य यह है कि अंतरंग निर्मल परिणामों सहित लिंग धारण करने से ही धर्म की प्राप्ति होती है।

---

८१. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा २ ८२. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा १८
८३. अष्टपाहुड : लिंगपाहुड, गाथा २०

(८४)

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।

विरक्त शिवरमणी वरें अनुरक्त बाँधे कर्म को ।
जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो।।

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य-सम्पन्न जीव कर्मों से छूटता है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है; अतः हे भव्यजीवो! शुभाशुभ कर्मों में राग मत करो।

(८५)

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेदुं अजाणंता।।

परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते ।
अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य को हैं चाहते।।

जो जीव वीतरागभाव रूप मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं तथा संसार-परिभ्रमण का हेतु होने पर भी अज्ञान से पुण्य को मोक्षमार्ग मानकर चाहते हैं, वे जीव परमार्थ से बाहर हैं। तात्पर्य यह है कि उन्हें कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी।

(८६)

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।।

सुशील है शुभकर्म और अशुभ करम कुशील है ।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं?।।

अज्ञानीजनों को सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि तुम ऐसा जानते हो कि शुभकर्म सुशील है और अशुभकर्म कुशील है, पर जो शुभाशुभ कर्म संसार में प्रवेश कराते हैं, उनमें से कोई भी कर्म सुशील कैसे हो सकता है?
तात्पर्य यह है कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म कुशील ही हैं, कोई भी कर्म सुशील नहीं होता।

---

८४. समयसार, गाथा १५० ८५. समयसार, गाथा १५४
८६. समयसार, गाथा १४५

(८७)

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती ।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ।।

जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है, उसीप्रकार सोने की बेड़ी भी बाँधती ही है। इसीप्रकार जैसे अशुभकर्म (पाप) जीव को बाँधता है, वैसे ही शुभकर्म (पुण्य) भी जीव को बाँधता ही है। बंधन में डालने की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनों कर्म समान ही हैं।

(८८)

तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ।।

दु:शील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो ।
दु:शील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो ।।

सचेत करते हुए आचार्य कहते हैं कि पुण्य-पाप इन दोनों कुशीलों के साथ राग मत करो, संसर्ग भी मत करो; क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

(८९)

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।।

पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है – जो न माने बात ये ।
संसार-सागर में भ्रमे मद-मोह से आच्छन्न वे ।।

इसप्रकार जो व्यक्ति 'पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है'–ऐसा नहीं मानता है अर्थात् उन्हें समानरूप से हेय नहीं मानता है, वह मोह से आच्छन्न प्राणी अपार घोर संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता है।

---

८७. समयसार, गाथा १४६
८८. समयसार, गाथा १४७
८९. प्रवचनसार, गाथा ७७

(९०)

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ।।

इन्द्रिसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है ।
है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है ।।

इन्द्रियों से भोगा जाने वाला सुख पराधीन है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बंध का कारण है, विषम है; अतः उसे दुःख ही जानो। तात्पर्य यह है कि पुण्योदय से प्राप्त होने वाला सुख, दुःख ही है।

(९१)

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ।।

शुभ-अशुभ रचना वचन वा रागादिभाव निवारिके ।
जो करें आतम ध्यान नर उनके नियम से नियम हैं ।।

शुभाशुभ वचन रचना और रागादिभावों का निवारण करके जो आत्मा अपने आत्मा को ध्याता है, उसे नियम से नियम होता है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभभाव का अभाव कर अपने आत्मा का ध्यान करना ही धर्म है, नियम है।

(९२)

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ।।

सद्-ज्ञान-दर्शन-चरित ही है 'नियम' जानो नियम से ।
विपरीत का परिहार होता 'सार' इस शुभ वचन से ।।

नियम से करने योग्य जो कार्य हो, उसे नियम कहते हैं। आत्महित की दृष्टि से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही करने योग्य कार्य हैं; अतः वे ही नियम हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की निवृत्ति के लिए 'नियम' के साथ 'सार' शब्द जोड़ा गया है।
अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही नियमसार है।

---

९०. प्रवचनसार, गाथा ७६ ९१. नियमसार, गाथा १२०
९२. नियमसार, गाथा ३

(९३)

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं ।।

जैन शासन में कहा है मार्ग एवं मार्गफल ।
है मार्ग मोक्ष-उपाय एवं मोक्ष ही है मार्गफल ।।

जिनशासन में मार्ग और मार्गफल—ऐसे दो प्रकार कहे गये हैं। उनमें मोक्ष के उपाय को मार्ग कहते हैं और उसका फल निर्वाण (मोक्ष) है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है। तथा इनकी पूर्णता से जो अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अनन्तवीर्य तथा अव्याबाध आदि गुण प्रगट होते हैं; वही मोक्ष है।

(९४)

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ।।

है जीव नाना कर्म नाना लब्धि नानाविध कही ।
अतएव वर्जित वाद है निज-पर समय के साथ भी ।।

जीव नाना प्रकार के हैं, कर्म नाना प्रकार के हैं और लब्धियाँ भी नाना प्रकार की हैं। अत: स्वमत और परमतवालों के साथ वचनविवाद उचित नहीं है, निषेध योग्य है। किसी से वाद-विवाद करना आत्मार्थी का काम नहीं है।

(९५)

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्ति ।।

ज्यों निधि पाकर निज वतन में गुप्त रह जन भोगते ।
त्यों ज्ञानिजन भी ज्ञाननिधि परसंग तज के भोगते ।।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति निधि को पाकर अपने वतन में गुप्तरूप से रहकर उसके फल को भोगता है, उसीप्रकार ज्ञानी भी जगतजनों से दूर रहकर—गुप्त रहकर ज्ञाननिधि को भोगते हैं।

---

९३. नियमसार, गाथा २ ९४. नियमसार, गाथा १५६
९५. नियमसार, गाथा १५७

(९६)

ईसाभावेण पुणो केई णिंदति सुंन्दरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे।।

यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की ।
छोड़ो न भक्ती वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की।।

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करें तो उनके वचनों को सुनकर हे भव्यो! इस सुन्दर जिनमार्ग में अभक्ति मत करना।

इस सच्चे मार्ग में अभक्ति—अश्रद्धा करने का फल अनंत संसार है; अतः किसी के कहने मात्र से इस सुन्दर मार्ग को त्यागना बुद्धिमानी नहीं है।

(९७)

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती ।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं।।

जो थाप निज को मुक्तिपथ भक्ती निवृत्ती की करें ।
वे जीव निज असहाय गुण सम्पन्न आतम को वरें।।

मोक्षपथ में अपने आत्मा को अच्छी तरह स्थापित करके जो व्यक्ति निवृत्ति-भक्ति करता है, निर्वाण-भक्ति करता है, निज भगवान आत्मा की भक्ति करता है, निज भगवान आत्मा में ही अपनापन स्थापित करता है, उसे ही अपना जानता-मानता है, उसका ही ध्यान करता है; वह निश्चय से असहाय गुणवाले निजात्मा को प्राप्त करता है।

(९८)

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं।।

मुक्तिगत नरश्रेष्ठ की भक्ती करें गुणभेद से ।
वह परमभक्ती कही है जिनसूत्र में व्यवहार से।।

मोक्ष में गये हुए पुरुषों के गुणभेद जानकर उनकी परम भक्ति करना व्यवहारनय से भक्ति कहलाती है। मुक्ति को प्राप्त महापुरुषों का—भगवन्तों का गुणानुवाद ही व्यवहार भक्ति है।

---

९६. नियमसार, गाथा १८६
९७. नियमसार, गाथा १३६
९८. नियमसार, गाथा १३५

(९९)

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।।

द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को ।
वे जानते निज आतमा दृगमोह उनका नाश हो ।।

जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से एवं पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि मोह के नाश का उपाय अपने आत्मा को जानना-पहिचानना है और अपना आत्मा अरहंत भगवान के आत्मा के समान है; अतः द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहत भगवान का स्वरूप जानना मोह के नाश का उपाय है।

(१००)

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ।।

सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधी ।
सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधी ।।

सभी अरहंत भगवान इसी विधि से कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और सभी ने इसीप्रकार मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है, उन सभी अरहंतों को मेरा नमस्कार हो।

(१०१)

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ।।

है ज्ञान दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है ।
हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है ।।

शुद्ध को ही श्रामण्य कहा है, शुद्ध को ही दर्शन-ज्ञान कहे हैं और शुद्ध को ही निर्वाण होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोगी श्रमण मुक्ति को प्राप्त करता है। मुक्त जीव ही सिद्ध कहलाते हैं। अतः सभी सिद्धों को मेरा बारंबार नमस्कार हो।

---

९९. प्रवचनसार, गाथा ८० १००. प्रवचनसार, गाथा ८२
१०१. प्रवचनसार, गाथा २७४